E-ISSN: 2706-8927
P-ISSN: 2706-8919
www.allstudyjournal.com
IJAAS 2023; 5(1): 32-34
Received: 23-11-2022
Accepted: 26-12-2022

डॉ० अभिमन्यु कुमार
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह महाविद्यालय, सरिसब–पाही, मधुबनी, दरभंगा, बिहार, भारत

Corresponding Author:
डॉ० अभिमन्यु कुमार
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह महाविद्यालय, सरिसब–पाही, मधुबनी, दरभंगा, बिहार, भारत

हिंदी दलित आत्मकथाओं में अस्मिता–बोध

डॉ० अभिमन्यु कुमार

DOI: https://doi.org/10.33545/27068919.2023.v5.i1a.914

प्रस्तावना

हिन्दी दलित आत्मकथाओं में अस्मिता का प्रश्न बड़े ही सशक्त ढंग से उभरा है। इसके विविध आयाम है। प्रत्येक आयामों को कई दृष्टिकोणों से देखना आवश्यक है। मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा में अस्मिता का सवाल अपने पूरे तेवर के साथ विद्यमान है। लेखक अपने को उस समुदाय से संबंधित कहता है जिसने कभी किसी को सताया नहीं और न ही धर्म के नाम पर किसी का शोषण किया। वे इतिहास के अंदर जाकर अतीत को टटोलते हैं जिसमें उन्हें अन्याय और अत्याचार ही मिलता है। ''हम गरीब जरूर थे पर हमने न देश बेचा था न अपना जमीर। न हम डंडीमार थे और न ही सूदखोर। चोर, लुटेरों की श्रेणी में हम नहीं आते थे। हमारे पुरखों ने घर बनाए, शहर बनाए पर न हमारे पास ढंग के घर थे और न बस्तियाँ। शहरों के भीतर बसने की कल्पना भी करना हमारे लिए मुश्किल थी। शहर–दर–शहर और उनके आसपास छितरे हमारी जात के लोगों की यही दास्तान थी।.... हमलावरों की जात कोई भी हो सभी हमें रौंदते थे।... पर सवर्णों की तरह हमने न मुगलों से समझौता किया न अंग्रेजों से सौदेबाजी की... हमारे माथे पर हमारी जातियों के नाम भी खुदते गये। जख्म–दर–जख्म जिनकी टीस हम झेलते रहे। सवाल हमारे लिए सलीब बने, उत्तर कहीं से न मिले।''[1] लेखक के अनुसार इतिहास में हम कहीं नहीं थे। हमारा शोषकों के द्वारा शोषण होता रहा और अन्याय, दमन को सहते रहें। अपनी विरासत में सिर्फ अन्याय और अत्याचार को देख लेखक का मन काफी द्रवित हो जाता है और समाज से पूछता है कि इतिहास में हमारी जगह क्या थी। क्या हम सिर्फ अन्याय और दमन को सहने के लिए ही बने थे। इस प्रकार लेखक अतीत में अपनी अस्मिता की तलाश करता है और पाता है कि शोषण और अत्याचार ही उसकी विरासत है।

दलितों में भी दुर्भाग्य से जातिभेद अपनी जड़ जमाये हुए है। जाति–प्रथा जैसी असमानता का इस समाज में मौजूद होना काफी चिंता का विषय है। हिंदू धर्म में जाति के नाम पर मनुष्य की श्रेष्ठता की पहचान होती है। जाति के कारण ही मनुष्य इज्जत पाता है और जाति के नाम पर ही अपमानित भी होता है। दलित जातिभेद के कारण ही सदियों से शोषित और अपमानित होते रहे हैं। ऐसे में उनके अंदर ब्राह्मणवाद का भाव सही नहीं है। दलितों में भी जाटव और वाल्मीकि जातियों के बीच उँच–नीच के भेद–भाव को देखा जा सकता है। मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा में दोनों जातियों के बीच व्याप्त असमानता की ओर ध्यान दिलाते हुए लिखते हैं, ''दलितों में ही जाटव और वाल्मीकि जातियों के बीच संवाद का अभाव तो था ही साथ ही आपस में घृणा और तनाव का वातावरण भी रहता था। कभी–कभी तो मारपीट भी हो जाती थी। दोनों जातियों के व्यवसाय/रहन–सहन/खान–पान तथा धार्मिक परंपराओं और प्रथाओं में जमीन–आसमान का अंतर था। एक जाति के लोग सूअर खाते थे, दूसरी जाति के लोग सूअर देखना भी नहीं चाहते। पर दोनों की आर्थिक स्थिति में भी फर्क था। वाल्मीकि समाज के लोग आर्थिक दृष्टि से कमजोर थे जबकि जाटवों की माली हालत लगभग ठीक–ठाक ही थी।''[2] इन दोनों जातियों के बीच सामाजिक के साथ ही सांस्कृतिक अंतर भी है। वाल्मीकि जाति के प्रति जाटवों का व्यवहार और बोलचाल भी सवर्णों की तरह होता है। दलितों के बीच इस प्रकार का आचरण कतई शोभनीय नहीं कहा जा सकता। अगर सवर्णों की तरह दलित भी व्यवहार करने लगे तो दोनों में अंतर क्या रह जायेगा। इसलिए जातिभेद को समाप्त करने के लिए दलितों में पैदा हुए इस सवर्ण मानसिकता को समाप्त करना ही होगा। लेखक अपनी आत्मकथा में स्वयं के समाज द्वारा किये जाने वाले इस भेद–भाव की ओर ईशारा करते हुए लिखते हैं, ''हमारी जात के घरों में भी सफाई करनेवाले/सफाई करनेवाली आती थीं, जिन्हें अन्य की तरह हम भी अबे ओ भंगी के, अरी ओ भंगन... आदि–आदि नामों से पुकारने में अपना बड़प्पन समझते थे। उन्हें बात–बात पर गालियाँ भी दे देते थे। हमारे घरों में जब किसी की मृत्यु हो जाती तो मृतक के अन्य कपड़े, सामान आदि उन्हें दिये जाते थे। शादी–विवाहों के अवसरों पर उनकी स्थिति दीनहीनता से भरपूर और भी विचित्र बन जाती थी।''[3]

दलित जातियों के बीच भी परस्पर सौहार्द देखने को नहीं मिलता है। उनके बीच इस प्रकार का भेदभाव दलित अस्मिता के लिए खतरनाक है। क्योंकि दलित आंदोलन की सपफलता के लिए आपस में एकता के भाव का होना आवश्यक है।

शिक्षा के प्रसार होने पर भी दलितों में अंधविश्वास बना हुआ है। वे पूजा, पाठ और धार्मिक कांडों के पीछे आज भी पड़े हुए हैं। उनमें भी कुल देवता और धार्मिक कर्मकांडों को बढ़ते हुए देखा जा सकता है। जिस ब्राह्मणवाद ने उन्हें धर्म से दूर रखकर सदियों से शोषण किया है, आज वे उसी के पीछे भाग रहे हैं। ''दलित जातियों में हालाँकि शिक्षा आने लगी थी, पर वह सतही सिद्ध हो रही थी। लोग परंपराओं को छोड़ना न चाहकर उन्हें सीने से चिपटाए रखने में ही अधिक विश्वास करते थे। दलितों में कुल देवता और गोत्र देवता उभरने लगे थे। वे अपने बाप–दादाओं की छोड़ी हुई लकीरें पीटने में लगे थे। उस लकीर को मिटाकर नई लकीर खींचने का साहस बहुत कम लोगों में था, जो संघर्षशील थे, कुछ नया करने के लिए जूझ रहे थे। पर दलित बस्तियों के आसपास कुकुरमुत्तों की तरह उग रहे मंदिरों तथा पीरों की मजारें उन्हें पीछे की ओर धकेल रही थी।''[4] जिस धर्म ने सदियों में उनकी यह दशा की है, उसी के पीछे भागना कहाँ की बुद्धिमानी कही जाएगी। धर्म का मोह उन्हें फिर से ब्राह्मणवाद के चंगुल में फंसा देगा। ऐसा नहीं है कि सारे दलित धर्म के दलदल में फिर से फंस गये हैं। लेकिन बाजार और राजनीति ने मिलकर धर्म का जो संघवादीकरण किया है उसमें अधिकांश दलित फंसते हुए नजर आ रहे हैं। उन्हें ब्राह्मणवाद के चाल को समझना होगा। धर्म के नाम पर राजनीति करने वाले दलितों को हिंदुत्व का मोह दिखाकर उन्हें अपने पक्ष में करना चाहते हैं। दलितों को इस राजनीति से बचना होगा तभी जाकर वे अपनी अस्मिता को खंडित होने से बचा पायेंगे।

मेरठ में सांप्रदायिक दंगा होने का बड़ा ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया है नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा में। उनके अनुसार दंगों के समय मुसलमान भी दलितों को शक की नजर से देखते हैं। मुसलमान भी दलितों को हिंदू समझते हैं। लेकिन हिंदू धर्म में दलितों की स्थिति कितनी नारकीय है, यह किसी से छुपा नहीं है। लेखक के अनुसार सांप्रदायिकता का उभार होने से दलित अस्मिता खतरे में पड़ जाती है। स्कूल में अध्यापकों की हिंदू–मुसलमान संबंधी बातें सुनकर लेखक को जिज्ञासा होती कि आखिर हम कौन है? लेखक ने जब बा से इस संबंध में पूछा तो उन्होंने स्वयं को चमार बताया न कि हिंदू या मुसलमान। रचनाकार ने 'बा' से बातचीत का विचारोत्तेजक प्रसंग अपनी आत्मकथा में प्रस्तुत किया है।

''अब मेरा सवाल था– ''बा, ये मुसलमानों को क्यों मारते हैं?''

> ''क्योंकि वे हिंदू हैं।'' बा का उत्तर था।
> ''और हम कौन हैं?'' मेरा अगला सवाल था।
> ''हम चमार हैं।'' बा बोला।

''पर क्या चमार हिंदू नहीं होते?'' मैंने फिर पूछा था। बा ने जवाब देने से पूर्व पलभर मेरी ओर देखा था, फिर कहा– ''चमार चमार होते हैं। न हिंदू न मुसलमान।'' मेरे भीतर और भी सवाल उपजने लगे थे, पर आगे कोई सवाल बा से नहीं पूछा था। क्या मालूम बा नाराज हो जाए। हम न हिंदू थे और न मुसलमान। ऐसा क्यों था। हम चमार हैं, ऐसा क्यों है? चमार कौन होते हैं? तब मुझे कुछ मालूम न था। मैं और आगे जानना चाहता था। पर किससे मालूम करूं। बा को तो चमड़ा काटने, पीटने, कूटने से ही फुरसत न थी। मुर्दा चमड़े से बा का अजीब–सा रिश्ता हो गया था।''[5] यहाँ लेखक अपने पहचान को लेकर जागरूक दिखाई देता है। पहचान के प्रति सजगता ही लेखक में अस्मिता बोध को पैदा करता है।

चमड़ा का काम छोड़ने के कारण जो लोग जाटव बन चुके हैं, वे भी चमारों से छुआछूत बरतते हैं। चमारों के साथ उनका रोटी–बेटी का संबंध नहीं होता है। जाटव और चमारों के बीच पनपे इस भेद–भाव को श्यौराज सिंह ने अपनी आत्मकथा में दिखाया है। ''मुर्दा मवेशी उठाने, खालें रंगने–पकाने और किसानों के रोजमर्रा इस्तेमाल की चमड़े की वस्तुएँ बनाने का काम करने के कारण धुर्रा में पफूपफा बंधुओं का घर वैसे तो हमारे घर की तरह छिका हुआ 'बहिष्कृत' था, परन्तु चमड़े का काम छोड़ चुके बाकी जाटव बने चमारों में भी आपसी दूरियाँ काफी थीं, लेकिन सवर्णों की दृष्टि में ये सब अछूत ही थे।''[6] दलित अस्मिता का छोटे–छोटे टुकड़ो में बँटना सही नहीं है। दलितों के अंदर सवर्णवादी मानसिकता का उदय उन्हें कभी जाति से उपर नहीं पहुँचने देगा। आज जो दलित निचले पायदान पर हैं, उन्हें उठाने के लिए सम्पन्न दलितों को पहल करना चाहिए। दलितों में बिना एकता के जातिभेद को समाप्त करने का उनका सपना पूरा नहीं हो सकता। इसलिए दलितों को एकता के एक सूत्र में बंधकर ब्राह्मणवादी वर्चस्व का मुकाबला करना चाहिए।

श्यौराज सिंह दलितों की सामाजिक परंपरा को ब्राह्मणों की अपेक्षा प्रगतिशील मानते हैं। लेखक के अंदर यह विचार उनकी अस्मिता बोध को दिखाता है। वे मानते हैं कि दलितों की संस्कृति ब्राह्मणों की तुलना में प्रगतिशील रही है। ब्राह्मणों के मुकाबले दलित स्त्रियाँ ज्यादा स्वतंत्र होती है। हालांकि वे भी पुरूषसत्ता की शिकार होती हैं लेकिन ब्राह्मणों जैसी रूढ़ियाँ दलितों के समाज में नहीं है। दोनों के बीच फर्क करते हुए वे लिखते हैं, ''ब्राह्मणों जैसी जटिलता हमारे यहाँ आज भी नहीं है, जिसमें विधवा स्त्री जिन्दगी–भर दूसरों पर बोझ बनी बैठी रहती है। अपनी माँ और बहन के वैधव्य के उदाहरण मेरी स्मृति में जिन्दा हैं। कम से कम मेरे सामाजिक परिवेश में विधवा विवाह का विरोध और सतीप्रथा दलित स्त्रियों की समस्याएँ कभी नहीं रही है।''[7] यहाँ लेखक दलित संस्कृति को हिंदू संस्कृति से अलग करके देखते हैं। असल में लेखक का यह अस्मिताबोध ही है जो उन्हें सवर्ण संस्कृति से अलग करता है।

कुछ दलितों के भीतर स्वयं की जाति को लेकर हीनताबोध होता है। वे अपनी जाति को समाज में छुपाने लगते हैं। दलित आत्मकथाकारों ने इस समस्या को अपनी आत्मकथाओं में प्रमुखता से रखा है। सूरजपाल चौहान अपनी आत्मकथा में दलितों के इस अंतर्विरोध को पाठकों के सामने रखते हैं। वे शहरों में रह रहे पढ़े–लिखे दलितों के बारे में लिखते हैं कि ये लोग अपना सरनेम बदलकर रहते हैं। जब पढ़े–लिखे दलित ही ऐसा करेंगे तो पिछे रह गये लोगों को आगे कौन लायेगा। ऐसे में तो दलित समाज और नीचे चला जाएगा। सूरजपाल चौहान अपनी आत्मकथा तिरस्कृत में लिखते हैं, ''नौएडा द्धउ॰प्र॰) में ग्यारह वर्ष के निवास के दौरान ऐसे कई अच्छे पढ़े–लिखे कोठी–बंगले वाले दलित परिवारों से सम्पर्क हुआ जो अपने पड़ोस में अपनी जाति छुपाकर रह रहे हैं। कोई राजस्थानी राजपूत तो कोई गौड़–ब्राह्मण। राजस्थानी बने राजपूत ने तो डर से कि कहीं उसके दलित होने की पोल न खुल जाये, अपनी बेटी की शादी नौएडा से दूर दिल्ली में गोल–डाकखाने के परिसर में जाकर की थी। ऐसा नहीं था कि नौएडा में रह रहे पड़ोसी उसकी जाति के विषय में जानते न हों। सभी जानते थे, लेकिन कोई अपने मुख से कुछ कहता न था। ऐसे पढ़े–लिखे लोगों में आत्म–सम्मान की कमी है।''[8] कहाँ तो उम्मीद की जा रही है कि पढ़ा–लिखा दलित तबका आंदोलन की बागडोर संभालेगा लेकिन यहाँ तो हीनताबोध देखने को मिल रहा है। शायद उन्हें नहीं मालूम था कि ऐसी प्रवृत्ति के कारण ब्राह्मणवाद और मजबूत होगा। दलितों के बीच भी श्रेष्ठता भाव पैदा हो जाने के कारण जातिभेद पहले से भी ज्यादा मजबूत हो गया है। हीनताबोध का आलम तो यह है कि सूरजपाल का भतीजा जय घर में लगे हुए अम्बेडकर के फोटो

पर भी अपनी आपत्ति व्यक्त करता है। दलितों में भी ब्राह्मणवाद पैदा हो गया है। जाति छुपाने की बजाए जाति–विहीन समाज के लिए दलितों को संघर्ष करना चाहिए। ऐसा करने के बाद ही वे आत्मसम्मान की जिंदगी जी सकते हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने जातिगत हीनताबोध पर विजय पाई है। लेखक की पत्नी चंदा भी वाल्मीकि की बजाए 'खैरवाल' लिखती हैं। नाटकों की पब्लिसिटी में वह अपना नाम चंदा खैरवाल प्रचारित करती हैं। अपने साथ ही वह लेखक को भी सरनेम बदल लेने के लिए कहती हैं। लेकिन ओमप्रकाश वाल्मीकि साफ मना कर देते हैं। उनके अनुसार जाति से भागने की बजाए जातिवादियों से डटकर मुकाबला करना चाहिए। समाज में जाति छुपाकर रहना समस्या का हल नहीं है। वे योग्यता, प्रतिभा और लगन को श्रेष्ठता का आधार मानते हैं, बजाए जाति को श्रेष्ठता का आधार मानने के। लेखक की भतीजी सीमा इस हीनता–बोध के कारण वाल्मीकि को अपना चाचा मानने से ही इनकार कर देती है। इसी प्रकार मंजू की शादी के कार्ड से भी लेखक का नाम नदारद रहता है जबकि उन्होंने शादी में बड़े भाई की भूमिका निभाई थी। मंजू के मुताबिक ओमप्रकाश वाल्मीकि का नाम कार्ड पर छापने से उनके 'खरे' सरनेम लगाने का भेद खुल सकता था। लेखक का प्रश्न है कि क्या सरनेम बदल लेने से सामाजिक परिवर्तन हो जाएगा। इसलिए वे समस्या के स्थायी समाधान पर बल देते हैं। उन्हें दुख होता है उन पढ़े–लिखे दलितों पर जो अपनी जाति के कारण हीनताबोध से ग्रसित हैं। ''दलितों में जो पढ़–लिख गए हैं, उनके सामने एक भंयकर संकट खड़ा हुआ है– पहचान का संकट, जिससे उबरने का वे तात्कालिक और सरल रास्ता ढूँढने लगे हैं। अपने वंशगोत्र को थोड़े ही संशोधन के साथ अपने नाम के साथ जोड़ने लगे हैं।... यह उन्हें आसान लगता है। इन सबके पीछे 'पहचान' की तड़प है, जो 'जातिवाद' की घोर अमानवीयता के कारण प्रतिक्रियास्वरूप उपजी है। दलित पढ़–लिखकर समाज की मुख्यधारा से जुड़ना चाहते हैं, लेकिन सवर्ण द्ध?) उन्हें इस धारा से रोकता है। उनसे भेदभाव बरतता है। अपने से हीन मानता है। उसकी बुद्धिमता, योग्यता, कार्यकुशलता पर संदेह व्यक्त किया जाता है। प्रताड़ित करने के तमाम हथकंडे अपनाए जाते हैं। इस पीड़ा को वही जानता है जिसने इसकी विभीषिका के नश्तर अपनी त्वचा पर सहे हैं। जिसने जिस्म को सिर्फ बाहर से ही घायल नहीं किया है अंदर से भी छिन्न–भिन्न कर दिया है। अस्तित्व के इस संकटकाल में मुझ जैसा कोई जाति–बोधक सरनेम के साथ आता है तो वे तमाम लोग चौकन्ने हो जाते हैं। उन्हें लगता है जैसे कोई उनका भेद खोल रहा है, क्योंकि समस्या से पलायन उन्हें सहज ही सरल लगता है जबकि सच यह है कि बदलाव पलायन से नहीं, संघर्ष और संवाद से आएगा।''[9] लेखक के अनुसार हम अपने पहचान को छुपाकर जिस ब्राह्मणवादी धारा में शामिल हो रहे हैं उससे समस्या का अंत नहीं होने वाला है। दलित होने के तमाम लाभ उठाकर भी वे दलित समाज की मुक्ति के संघर्ष में शामिल नहीं होना चाहते। यह उन थोड़े से दलितों की अवसरवादिता है जो अपने दायित्व को नहीं समझते। मुख्यधारा में शामिल होने की यह उनकी फालतू कोशिश है जो कभी गौरव नहीं दिला सकता। अपनी पहचान को विलीन कर वे दलित अस्मिता को संकटग्रस्त कर रहे हैं। उनके ऐसा करने से सारा दलित आंदोलन प्रभावित हो सकता है। इसलिए लेखक समस्या से भागने की बजाए संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। क्योंकि संघर्ष और संवाद के बल पर ही इस पहचान के संकट से निकला जा सकता है।

संदर्भः

1. अपने–अपने पिंजरे, भाग 2, मोहनदास नैमिशराय, पृष्ठ 14–15.
2. वही, पृष्ठ 67.
3. वही, पृष्ठ 67.
4. वही, पृष्ठ 46.
5. अपने–अपने पिंजरे, भाग 2, मोहनदास नैमिशराय, पृष्ठ 50–51.
6. मेरा बचपन मेरे कंधों पर, श्यौराज सिंह 'बेचैन', पृष्ठ 23.
7. वही, पृष्ठ 37.
8. तिरस्कृत, सूरजपाल चौहान, पृष्ठ 126.
9. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ 152.